मेरी अपनी दुनिया

विष्णु चिंचालकर

अजी, कभी आप मेरे घर नहीं पधारे। आपने तो केवल सुन ही रखा है कि मेरा घर 'एक अजीब-सा कबाड़ खाना है। कई तरह का अटाला और ऊट-पटांग चीज़ें जहाँ-तहाँ बिखरी हुई आपको दिखाई देंगी' वगैरह-वगैरह। वास्तव में, इसमें झूठ कुछ भी नहीं है। परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इसी कबाड़-खाने में आपको कुछ दिलचस्प बातें भी दिखाई देंगी। इतना ही नहीं वे ऊट-पटांग चीज़ें आपका मनोरंजन भी करेंगी। और उन्हीं चीज़ों को घुमा-फिरा कर यदि मैं कुछ करतब कर दिखाऊँ तो आप अचम्भित भी हो सकते हैं। परन्तु हाँ, केवल मनोरंजन या अचम्भित करना ही मेरा इरादा नहीं है। उसके परे भी जो एक विचार है, दर्शन है उसे आप तक पहुँचाने के लिए ही यह सारी उधेड़-बुन है।

वैसे इस कबाड़-खाने में कोई भी परिचित या अजनबी आता है तो मेरे यह साथी (हाँ, अब वे सारी चीज़ें मेरे लिए निर्जीव अटाला नहीं बल्कि मेरे आस-पास फैले हुए सदैव मेरा साथ देने वाले साथी ही तो हैं) स्वयं ही अपना परिचय दे देते हैं। परन्तु उनकी कुछ छिपी हुई खूबियाँ विस्तारपूर्वक बताने में मैं ज़रा भी आनाकानी नहीं करता। मेरे इस उत्साह का मित्रों द्वारा मज़ाक भी उड़ाया जाता है। पर मैं हूँ कि बाज़ नहीं आता। कारण मेरी आन्तरिक इच्छा है कि उन वस्तुओं द्वारा जो सुखद अनुभूति मुझे हो पाई उसमें मित्र भी हिस्सा बँटाएँ और उनके अनछुए, नज़रअन्दाज़ किए गए पहलुओं की ओर मित्रों का ध्यान जाए। केवल किसी एक खामी के कारण वे तिरस्कृत

न हों। अब मेरे इस प्रयास में मैं कहाँ तक सफल हो पाता हूँ इसका अन्दाज़ लगाना कठिन है क्योंकि सफलता तो निर्भर करती है दर्शकों की मानसिकता, उनकी संवेदनशीलता और क्रियान्वयन करने की क्षमता पर। परन्तु हाँ, मेरी आम की गुठली में बना चित्र देखने के बाद कोई व्यक्ति आम खाने के बाद गुठली फेंक देने के पूर्व रुक कर यदि एक क्षण के लिए भी उसे गौर से निहारे तो इसे मैं अपनी आंशिक सफलता मान सकता हूँ। परन्तु मेरी टूटी हुई चप्पल की मोनालिसा देखने के बाद अपनी टूटी चप्पल यदि कोई मेरे ही पास भेज दे तो फिर सिवाय माथा ठोक लेने के मैं कर भी क्या सकता हूँ।

“भई, यह तो आपकी नज़र है। हम कहाँ देख सकते हैं। अपने तो बूते की बात नहीं।” इस प्रकार की दलील का मतलब प्रयास करने के झंझटों से छुटकारा।

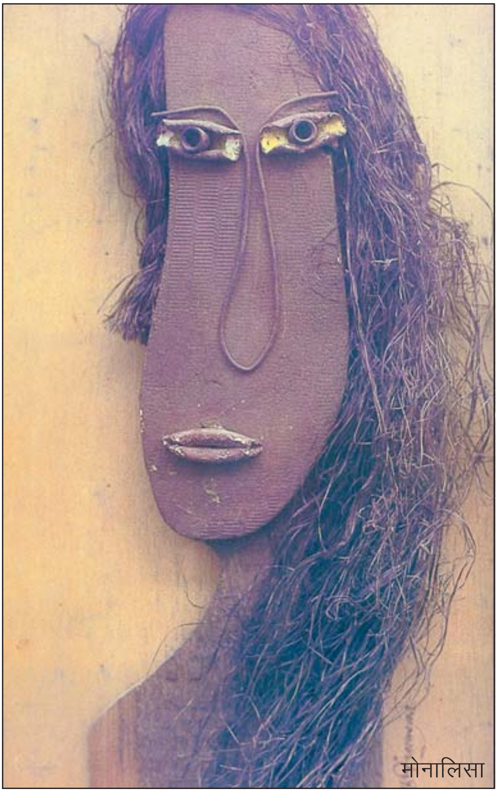
मोनालिसा

नज़र और नज़रिया

मैं तो हमेशा ही कहता हूँ कि इस प्रकार की नज़र केवल मेरी ही बपौती नहीं है। हर बच्चे के पास वह होती है, आपके पास भी है। एक तो उसकी जानकारी आपको नहीं है या उसे आज़माने का प्रयास आपने नहीं किया। मैं वही बातें तो करता हूँ जो बचपन में एक बच्चा भी करता रहता है। जब वह पकौड़ी में मुर्गा या बतख की शक्लें देखकर माँ को दिखाने का प्रयास करता है तो उसे मिलती है चपत, और यदि मैं गुठली में सुअर या किसी साधु का चेहरा दिखाता हूँ तो मेरी नज़र की तारीफ होती है। यह भी कोई न्याय है? सड़क पर या बगीचे में घूमते हुए अजीब-सी लगने वाली चीज़ें, वह भी बटोरता है और मैं भी। क्या फर्क है? फर्क तो केवल इतना है कि उन्हीं चीज़ों को बड़े भी समझ पाएँ, इस ढंग से उसे

प्रस्तुत करने का तरीका। अब वयस्क होने के नाते मुझे इनाम तो नहीं मिलता। परन्तु हाँ, मेरी इन बचकानी हरकतों का मज़ाक अवश्य उड़ाया जाता रहा है।

हर बच्चे में, और इसीलिए हर व्यक्ति में यह नज़र प्रकृति ने दे रखी है। लेकिन इसका अहसास उसे नहीं होता और न कभी वह उसे जानने का प्रयास करता है। एक साधारण-सा उदाहरण लें।

कौन चित्रकार है?

जब दर्शकों को अपनी कृतियाँ दिखाता हूँ तो आमतौर पर उनकी एक ही प्रतिक्रिया मुझे दिखाई देती है। बादलों में तथा पानी के धब्बों के कारण या रंगों की परतें उखड़ जाने के कारण बिगड़ी हुई पुरानी दीवारों पर दिखाई देने वाले चित्रों की स्वीकारोक्ति। अब ज़रा गौर कीजिए, क्या वास्तव में वहाँ चित्र होते हैं? वहाँ तो होते हैं बादलों के कुछ टुकड़े या पुंज और धब्बे। बस, हर व्यक्ति अपनी-अपनी कल्पना शक्ति के सहारे इस पुंज में से अपने मनचाहे और परिचित चित्रों का निर्माण कर लेता है। हर व्यक्ति के अन्दर विद्यमान जो एक छिपा हुआ चित्रकार होता है वही तो यह चित्र बनाता है। उस छिपे हुए चित्रकार को प्रकट होने के लिए आसमान के बादल या दीवारों के धब्बे बहाना मात्र हैं।

किसी चीज़ पर दूसरी चीज़ के टकराने पर उसमें से आवाज़ निकलती है यह तो हम सब जानते हैं। यदि चीज़ ठोस होती है तो एक प्रकार की आवाज़ निकलेगी। धातु की हो तो भिन्न आवाज़ निकलेगी, मतलब जिस जाति की आवाज़ प्रकृति ने उसमें दे रखी है वही तो निकलेगी। परन्तु यह आवाज़ सुप्त रूप में छिपी हुई नाद या ध्वनि होती है। प्रकट होने के लिए बाहर की किसी टकराहट की आवश्यकता होती है। कहावत भी है, ‘एक हाथ से ताली नहीं बजती’। तो इस प्रकार की टकराहट के लिए और अन्दर की छिपी

शक्तियों को प्रकट करने के लिए हमारे आस-पास के वातावरण की हरेक चीज़ तैयार है। बशर्ते उसे प्रतिसाद देने और संवाद स्थापित करने के लिए संवेदन क्षमता हो। वह तो अनेक कुप्रभावों के आवरण के नीचे दबकर शिथिल हो जाती है।

अज्ञान का लोन्दा बनाम स्वाभाविक विकास

बच्चे का दिमाग इस मायने में पूरा संवेदनक्षम होता है, कुप्रभावों से अछूता। परन्तु धीरे-धीरे वयस्कों के अनावश्यक दबावों के कारण संवेदनशीलता के कम होने का खतरा बना रहता है। अधिकांशतः यह देखा गया है कि वयस्क, फिर वह पालक हो या शिक्षक अपनी बातें शिक्षा के रूप में बच्चों पर थोपते हैं, अपनी इच्छा या महत्वाकांक्षा के अनुरूप उन्हें ढालना चाहते हैं। और इस दबाव के कारण बच्चे की प्रवृत्ति बाहर उभरने की बजाय अन्दर ही दबकर रह जाती है। उसे प्रकट होने का अवसर ही नहीं मिलता और उसके स्वाभाविक विकास की गति रुक जाती है।

हमारी यह पक्की धारणा बन चुकी है कि बच्चे के रूप में प्रकृति ने एक अज्ञान का लोन्दा हमारे सुपुर्द किया है और उसे हमें आकार देना है। बिलकुल शुरू से ही एक विशिष्ट आकार देने की, उसमें ढालने की यह प्रक्रिया शुरू हो जाती है। मैंने तो यह पाया है कि सिखाने के प्रयास में कोई सीखता नहीं। वह तो सीखता है स्वयं के प्रयास से। उसके अन्तःप्रेरित प्रयास को आसान करने के लिए यदि हम केवल सहयोग दें तो सही ढंग से विकास होने की सम्भावना अधिक है।

बच्चे की संवेदन क्षमता बनाए रखना, कल्पना शक्ति बढ़ाने के लिए पूरा अवसर देना और ऐसे अवसर निर्माण करना ताकि उसे प्रोत्साहन मिलता रहे, और अपने आस-पास के वातावरण के बारे में भी जागरूकता निर्माण करना, इसे मैं महत्वपूर्ण मानता हूँ। इसीलिए जब भी मुझे कोई अपने बच्चे को सिखाने के लिए कहता है तो मेरा एक ही निवेदन होता है, “भई, बच्चों को सिखाने की गुस्ताखी मैं नहीं करूँगा। उससे

तो मैं खेलूँगा। उसके साथ खेलने पर वह खुद ही अपनी क्षमता के अनुरूप सीख लेगा।"

प्रकृति, प्रकृति, प्रकृति

सिखाने की वास्तव में आवश्यकता है वयस्कों को। ताकि वे बच्चों की सीखने की स्वाभाविक प्रक्रिया में अनावश्यक दखलअन्दाज़ी न करें, बल्कि सहयोग दें। यह मेरा अपना अनुभव है। मैं भी तो खेलते-खेलते ही सीखा हूँ। जब मुझे एक गुरु ने कहा, "टीचिंग इज़ चीटिंग, रियल टीचर इज़ नेचर।" तो बात मुझे जँची और मैं प्रकृति की शरण में गया। धीरे-धीरे बात समझ में आने लगी। प्रकृति की इस पाठशाला में कोई भाषणबाज़ी नहीं है और न किसी विशेष बात को जानबूझ कर थोपने का प्रयास। वहाँ हर चीज़ में अपने-अपने तरीके से नियमित रूप से काम करते रहने का कार्यक्रम जारी रहता है। बस आप उसे निहारते रहें, उसे समझने का प्रयास करें, उसके साथ तन्मयता स्थापित करें। वह आपको कुछ-न-कुछ सोचने के लिए उकसाएगी और आपका सोचना शुरू हो जाएगा। आप प्रकृति में बिखरी हर चीज़ के साथ खेलें। उसके साथ रिश्ता जोड़ें - संवाद स्थापित करें। वह अपना सब कुछ आप पर न्यौछावर कर देगी। अपनी औकात के अनुसार आप बटोरते चलें, उसका भण्डार कभी खाली नहीं होगा।

हम अपनी ही बात देखें तो पता चलेगा कि प्रकृति को समझ लेने के प्रयास के कारण ही तो मानव प्रगति के इस पड़ाव तक पहुँच पाया है। वैज्ञानिक अपने तरीके से, चित्रकार अपने तरीके से तो अन्य विधा के धनी अपने-अपने तरीके से प्रकृति को समझने का प्रयास कर रहे हैं और प्रकृति भी अपना पूरा सहयोग दे रही है। प्रकृति और मानव के आपसी सहयोग से ही एक स्वस्थ विकास की सम्भावना है। सहयोग खेल भावना में ही मिल सकता है। यही वजह है कि मैं बच्चों के साथ खेलना चाहता हूँ। मुझे वह पुराना अँग्रेज़ी मुहावरा जँचता नहीं है, "वर्क वाइल यू वर्क, प्ले वाइल यू प्ले, देट इज़ द वे टू बी हैप्पी एण्ड गे।"

'खेल के समय खेल और काम के समय काम,' मतलब खेल और काम मानो परस्पर विरोधी बाते हैं।

एक का दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। यानी हर बात में अलगाव। इसके विपरीत यदि इन दोनों का समन्वय करें तो? हर काम खेल भावना से क्यों न हो? इस तरीके से तो काम का उबाऊपन तथा उसकी बोझिलता कम होकर खेल-खेल में ही काम अपने आप हो जाए।

असीमित सम्भावनाएँ

मैं तो भई काम को इसी रूप में लेता हूँ। घर के आंगन में झाड़ू लगाना, कपड़े धोना या ऐसा कोई भी काम जिससे कि हमारे बहुतेरे लोग जी कतराते हैं, करने में मुझे मज़ा ही आता है। हर काम की अपनी विशेषता होती है, उसका कोई धर्म होता है, हलचल में एक लयकारी होती है। उसे समझने और उसकी लय के साथ लय मिलाते ही वह काम आसान हो जाता है। काम के दौरान कई प्रकार के अनुभव मिलते रहते हैं और काफी कुछ सीखना हो जाता है। मेरे सारे चित्र इस प्रकार के खेल के परिणाम स्वरूप काम करते-करते ही बन पड़े हैं। मैं तो खेलता रहा और चित्र अपने आप उभरते रहे। मेरा प्रयास केवल उन्हें खोजने का या थोड़ा-बहुत संवार कर दूसरों की अनुभूति के लिए प्रस्तुत करने का रहा। वह भी इतना संयमित कि उसका मूल स्वरूप नष्ट न होने पाए। दर्शकों को केवल इशारा मिल जाए ताकि अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा वे अन्य बातें भी खोज पाएँ।

आंगन में सफाई करते समय सूखी टहनियाँ, सूखे हुए पत्ते, फलियाँ, बीज, बेमतलब उगने वाली चीज़ें आदि मेरा ध्यान खींचती रहीं। उन्हें निहारते-सहलाते हुए निकटता महसूस होने लगी और वे भी अपनी-अपनी विशेषताएँ, अपना आकार, बनावट, रंगों की छटाएँ जैसी बारीकियाँ प्रकट करने लगीं। यही तो उनकी भाषा है। उसे समझ लेने के प्रयास में ही बातचीत का सिलसिला शुरू हो गया। और फिर पानी की बोतल साफ करते हुए उसमें की काई, रंगों की प्लेट-ब्रश, या टेबल की जमी धूल साफ करते समय कपड़े के पोंछे पर फैले हुए धब्बे

आदि चित्र की प्रेरणा देने लगे। घर की सफाई करने पर झाड़ू में घाघरा फैला कर नाचने वाली गुड़िया का आभास हुआ, तो दीवार पर ही मकड़ी के जाले ने चिपक कर चित्र बना दिया। चप्पल टूटी तो मोनालिसा से मेल जम गया। तो दूसरी, पनिहारिन बनकर सामने आई। आम की गुठली में सुअर तो कभी कोई साधु-महात्मा दिखाई पड़े। दूसरी में रवीन्द्रनाथ, कार्ल मार्क्स तथा आंइस्टीन की याद हो गई। कुर्सी की टूटी हुई पीठ के हिस्से में ध्यानस्थ योगी, फिर वह भगवान महावीर हो, बुद्ध हो, विनोबाजी या रामकृष्ण परमहंस के भी दर्शन होते रहे। पुरानी फटी हुई बनियान से बने ईसा मसीह को मुम्बई प्रदर्शनी में देखकर किसी दर्शक की प्रतिक्रिया बड़ी ही मार्के की रही। ईसा के एक वाक्य, "मैं तो बस एक चिथड़ा हूँ। इससे अधिक कुछ नहीं।' का उदाहरण देते हुए उस वाक्य को सार्थक रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय उन्होंने मुझे दे दिया।

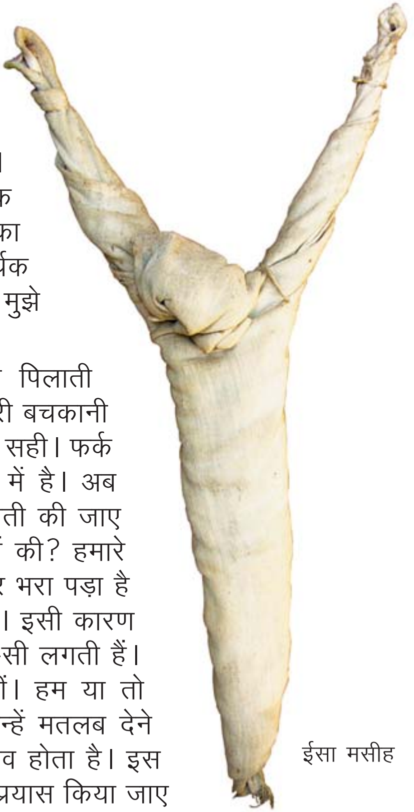

ईसा मसीह

जली हुई रोटी में बच्चे को दूध पिलाती माता के दिखने की बात कहूँ तो वो मेरी बचकानी हरकत लग सकती है। और बात है भी सही। फर्क केवल उसे संप्रेषित करने के तरीकों में है। अब यदि सच कहूँ तो कहाँ-कहाँ तक गिनती की जाए इन चित्रों की और उनके प्रेरणा स्रोतों की? हमारे आस-पास ही प्रकृति का अखूट भण्डार भरा पड़ा है पर उसे उलीचने की क्षमता सीमित है। इसी कारण तो हमें कई बातें बेकार और बेमतलब-सी लगती हैं। वास्तव में, वे बेमतलब की नहीं होतीं। हम या तो उनका मतलब नहीं समझ पाते या उन्हें मतलब देने लायक कल्पना शक्ति का हम में अभाव होता है। इस अभाव को दूर करने की दिशा में यदि प्रयास किया जाए तो कोई बात बेमतलब और बेकार नहीं लगेगी और उनके साथ एक नया रिश्ता जुड़ सकेगा। और यदि इन निर्जीव लगने वाली चीज़ों के साथ अपनेपन का रिश्ता जुड़ सकता है तो सजीव प्राणी के साथ तो जुड़ ही सकता है।

निर्जीव संसार से परे सौन्दर्य बोध

यह विचार मेरे मन में तब अधिक प्रबल हुआ जब मेरी मुलाकात बाबा आमटे से हुई। निर्जीव वस्तुओं के साथ खेलना आसान होता है, उनकी प्रतिकार शक्ति सजीव प्राणियों की प्रतिकार शक्ति के मुकाबले कम होती है। इसलिए उसे मनचाहे ढंग से ढाला जा सकता है। परन्तु मनुष्य के साथ यह बात इतनी आसान नहीं। बाबा ने यह कर दिखाया। कोढ़ियों की मानसिकता में बदलाव लाकर और उनकी सुप्त अस्मिता जगाकर उनके द्वारा बड़े-बड़े निर्माण कार्य करवाए और वे भी सहज हँसते-खेलते।

पन्द्रह साल पूर्व जब पहली बार मैं उनसे मिला तो उन्होंने एक सवाल रखा, "हम अजन्ता एलोरा जाते हैं और वहाँ भग्न, अवयव विहीन शिल्पों व चित्रों की हम सराहना करते नहीं अघाते। भग्न कलाकृतियों में भी सौन्दर्य खोजने वाला हमारा सौन्दर्य बोध क्या केवल चित्र, शिल्पों तक ही सीमित है? बिना किसी अपराध के जिसके अवयव झड़ चुके हैं, जो अपना रूप खो चुका है, ऐसे जीते-जागते हाड़-मांस के मनुष्य को तिरस्कार की नज़र से देखते हुए हमारा सौन्दर्य बोध कहाँ लुप्त हो जाता है? चित्र, शिल्पों की खामियों को तो हम अपनी कल्पना से पूरी कर लेते हैं। उनके रख-रखाव का पूरा ख्याल रखते हैं। वहीं इन विद्रूप, अपाहिज, कुष्ठ रोगियों से डर कर दूर भागते हैं। क्या उनकी क्षति को पूरा करने लायक कल्पना शक्ति हमारे पास नहीं है?"

यही सवाल मेरे लिए एक सम्बल बन गया। मनुष्य में कितने सारे पहलू हो सकते हैं। केवल एक ही दृष्टिकोण से उसे परखना उसके साथ अन्याय हो सकता है। बुरे और अप्रिय पहलुओं को नज़रअन्दाज़ कर क्यों न अच्छे पहलुओं को अपनाएँ? किसी के केवल कुछ अंग झड़ जाने पर उसकी महत्ता समाप्त थोड़े ही होती है। उसके अन्दर अन्य कई सम्भावनाएँ हो सकती हैं। उन्हें जगाकर क्यों न उसे उपयोगी बनाएँ?

मुझे निर्जीव, फटी पुरानी बनियान में ईसा दिखाई दिए तो बाबा की नज़र देखिए। वे कंधे पर हल ढोते हुए किसान में अपना क्रूस ढोने वाले ईसा मसीह को देखते हैं और श्रम करते हुए मज़दूर की पीठ पर पसीने की बहती धारा में उन्हें ईसा का क्रॉस दिखाई देता है। मेरी नज़र से खोजी हुई चीज़ तो कलाकृति बनती है और बाबा की नज़र से...?

हमने कला, सौन्दर्य या इसी प्रकार कई बातों को परिभाषित कर उसे एक

सीमित दायरे में जकड़ दिया है। उस घेरे से बाहर निकलकर व्यापक रूप में सोचने को हम तैयार नहीं हैं। इस कारण हमारा सौन्दर्य बोध या कलाकृति की समझ उस व्याख्या के घेरे में ही सिमट कर रहेगी।

पर मेरी अपनी निजी मान्यता इसके ठीक विपरीत है। मुझे तो अपनी कलाकृतियों की अपेक्षा बाबा द्वारा निर्मित की गई कलाकृतियाँ श्रेष्ठ जान पड़ती हैं। मेरा कितना सीमित दायरा, तो बाबा आमटे का इतना विशाल और व्यापक।

विष्णु चिंचालकर - प्यार से 'गुरुजी' बोलकर सम्बोधित किया जाता रहा है। एक प्रख्यात चित्रकार तो थे ही पर उससे भी ज़्यादा वे सच्चे अर्थों में एक अनौपचारिक गुरु भी थे। अपनी उम्र के चौथे दशक में जब उनको कला की दुनिया के ज़्यादातर पुरस्कार मिल चुके थे उन्होंने कला-माध्यम के तौर पर प्रकृति का चुनाव करते हुए रंगों को त्याग दिया था। अपने जीवन का बाकी और बहुत बड़ा हिस्सा उन्होंने प्रकृति के कैन्वास पर आकार की तलाश करते हुए बिताया और बच्चों तथा उनके अभिभावकों-शिक्षकों के बीच अपनी कला-दृष्टि का प्रचार किया।

यह लेख नई दुनिया, 1984 से लिया गया है।
सभी चित्र - गुरुजी की कलाकृतियाँ।
डिज़ाइन - दिलीप चिंचालकर, इन्दौर।